SHODH SAMAGAM

ISSN : 2581-6918 (Online), 2582-1792 (PRINT)

अखिलेश की रचनाओं में सामाजिक सरोकार और वैश्वीकरण का प्रभाव

मो. साजिद हुसैन, पीएच–डी., दूरसंचार विभाग
संचार मंत्रालय, नई दिल्ली, भारत

ORIGINAL ARTICLE

Author
मो. साजिद हुसैन, पीएच–डी.
E-mail : readsajid@gmail.com

shodhsamagam1@gmail.com

Received on : 14/04/2025
Revised on : 14/06/2025
Accepted on : 24/06/2025
Overall Similarity : 00% on 16/06/2025

शोध सार

साहित्यकार के साहित्य सृजन में समय और समाज की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। समय की नब्ज़ पहचान कर उसके बरक्स साहित्य रचने वाले सहित्यकार हर दौर में रहे हैं। आदि–साहित्य से लेकर वर्तमान साहित्य की विविधता के रूप में यह हमारे सम्मुख प्रकट है। अखिलेश ऐसे ही रचनाकार हैं। उन्होंने अपने दौर के 'समय और समाज' को अपनी रचना में जीवंत किया है इसीलिए उनकी रचनाधर्मिता यथार्थ से कटी हुई न होकर अपने समय को अपने साहित्यिक कैनवास पर चित्रांकित करते हैं। उनका साहित्यिक केनवास भले ही संख्या में विस्तृत न हो लेकिन उस पर उकेरे गये चित्र बहुआयामी हैं। यही कारण है कि समय और समाज की पड़ताल करते हुए उनकी साहित्यिक उपलब्धियां समकालीन अवस्था का दस्तावेज बन जाती हैं।

मुख्य शब्द

सामाजिक सरोकार, वैश्वीकरण, उपभोक्तावाद, बेरोजगारी, लोकतंत्र.

प्रस्तावना

जब कोई रचनाकार रचना की सृष्टि करता है तब वह जाहिर तौर पर सरोकारों से वाबस्ता होता ही है। उसकी रचना यथार्थवादी हो, कल्पनाजीवी हो या वैचारिक,उसका जुड़ाव समय, समाज या स्वप्न से लाजिमी है चाहे उसकी रचना 'स्वान्तः सुखाय' के लिए ही क्यों न हो। किसी भी रचनाकर्म का सरोकार से विरत होना मुमकिन नहीं। "यकीन मानिए एक सच्चे लेखक के भीतर ढेर सारी अग्नियाँ जलती रहती हैं जिसमे उसकी बहुत सी प्रसन्नता, आराम, इत्मीनान, उसकी खुदगरजी, उसका ढेर सारा सुअरपन जलकर राख हो जाता है। इन अग्नियों के कारण उसके अनुभव सामान्य इंसानों की तरह कच्चे नही रह पाते,पक जाते हैं। बाहर का संसार

जब उसके भीतर आता है तो ये अग्नियाँ उसमे से गुजरकर या उसे अपने भीतर से गुजरकर एक ख़ास तरह की आंच सुपुर्द करती है। आंच के कारण उस संसार में बहुत सारे ठोस और ठस्स पिघल जाते हैं द्रव्य वाष्प बन जाते हैं। अवांछनीय नष्ट हो जाते हैं। कुछ चीजें आंच पाकर नया आकार ले लेती हैं। सोना आभूषण बन जाता है लोहा हथियार। यही कारण है कि जब बाहर का संसार लेखक के भीतर की अग्नियों से गुजरकर बाहर रचना में प्रकट होता है तो वह असलियत में वही संसार रहता है,लेकिन वह वही संसार नहीं रहता'।[1]

अखिलेश का रचना कर्म अपने समय और समाज से गहरे सरोकार रखती हैं। यह उनकी कहानियों, उपन्यासों और सृजनात्मक गद्द में देखा जा सकता है। सामाजिक प्रतिबद्धता के जीवंत चित्र उनके सृजन में मिलते है। वे गहरे संवेदनात्मक ताने–बाने के साथ यथार्थ की गहरी अनुभूति कराते हैं। समय और समाज पर बाज़ार की धमक,बढती बेरोजगारी,उत्तर आधुनिक समय का यंत्रीकरण, बदलते सामजिक ढाँचे, टूटते पारिवारिक संबंध, राजनीति की क्रूरता और पतन, व्यवस्था का भ्रष्ट होते जाना आदि सभी अखिलेश के सामजिक सरोकार का हिस्सा बनते हैं। उनके सरोकार सामजिक विरूपता और सामाजिक व्याख्या में हो रहे बदलावों में दिखता है। वे मानवता की पक्षधरता के प्रति प्रतिबद्ध मिलते हैं। शोषक पूंजीवादी व्यवस्था के विकास के मकरजाल के खिलाफ वे दबे–कुचले, पीड़ित, शोषित मनुष्यों और मानवता के पक्ष में खड़े होते हैं।

मानव विरोधी व्यवस्था का प्रतिरोध

अखिलेश अपने साहित्य में 'व्यवस्था के मनुष्य विरोधी चरित्रों' को उजागर करते हैं। पूँजीवादी व्यवस्था अपने वर्चस्व से व्यवस्था को मनुष्य विरोधी बनाकर उसका इस्तेमाल अपने लाभ के लिए करता है जो भी इस व्यवस्था के विरुद्ध होता है,समूची व्यवस्था उसके विरुद्ध हो जाती है। 'शृंखला' का 'रतन कुमार' ऐसी ही प्रतिरोधात्मक अपराध का शिकार होता है। यह व्यवस्था सामाजिक और राजनैतिक दोनों स्तरों पर उनके साहित्य में मिलता है। राजनैतिक व्यवस्था अपने पतन के चरम पर है। जहाँ 'बायोडाटा' जैसी स्थिति उत्पन्न हो गई है। किसी भी कीमत पर अपना राजनैतिक 'बायोडाटा' दुरुस्त करने की महत्वाकांक्षा पलती रहती है। इसका मूल "गरीबी, असुरक्षा, शोषण का बोध मध्यम वर्ग का शाश्वत बायोडाटा रहा है। इन्ही चीजों ने एक हड़बड़ी को जन्म दिया–शाश्वत किस्म की हड़बड़ी। उसने कायदे से अब तक कुछ नहीं बदला सिवाय मूल्यों के। मूल्यों में बदलाव उसकी छटपटाहट का नतीजा है, उसकी महत्वाकक्षाओं का नतीजा है। दूसरों को लगातार आगे बढ़ते देखने और खुद को स्थिर पाने का परिणाम है" ।[2]

इस सामाजिक व्यवस्था के भ्रष्ट होने का मूल इस राजनितिक व्यवस्था की पतनशीलता है। सही ही कहा गया है 'महत्वाकांक्षा का मोती निष्ठुरता की सीपी में पलता है'। यह महत्वाकांक्षी व्यवस्था निष्ठुर हो गई है तभी 'सरोज' जैसे पीड़ित पात्र का इस्तेमाल 'मीरा यादव' जैसी नेत्री अपने राजनैतिक फायदे के लिए करती है। क़ानून और मीडिया भी इस राजनितिक सत्ता की महत्वाकांक्षा को पूर्ण सहयोग देती है। राजनितिक सत्ता का मठों और महंतों में क़ैद हो जाना ध्रुवीकरण की राजनीती का इशारा है। यह कितना मजबूत है इसका अंदाजा 'यक्षगान' के भोला के शब्दों से पता लगाया जा सकता है,भोला कहता है–"अध्यक्ष जी के यहाँ तो फिर भी एक बार पुलिस आ सकती है पर महंत जी के यहाँ किसकी हिम्मत है। अध्यक्ष जी जैसे बाईस उनकी जेब में हैं" ।[3]

व्यवस्था के मनुष्य विरोधी होते जाने की कथा के रूप में कहानी 'श्रृंखला' को देखा जा सकता है जहाँ सारी व्यवस्था एक ऐसे आदमी के खिलाफ हो जाती है जो देख भी नहीं सकता। वह एक समाचारपत्र में 'अप्रिय' नाम से कॉलम लिखता है जिसमे व्यवस्था कारगुजारियों को समझने और प्रतिरोध की बात होती है। व्यवस्था के इस चरित्र का मूल राजनीति की वह नर्सरी है जहाँ 'राजदेव मिश्र' जैसे नेता तैयार किये जाते हैं। राजनितिक वर्चस्व से आज पूरी व्यस्था संक्रमित हो चुकी है। एक युवा नेता इसे खूब जानता है। वह जानता है की "प्रदेश सचिव बनने के बाद चुनाव की तैयारी करनी है यानी धन्य धान्य इकठ्ठा करना है और असलहे। सब बूथों पर कब्ज़ा करवा लो किला फ़तेह। बहुत हुआ मुकदमा ठुका। वहां भी कौन सा इन्साफ है। हो भी,क्या फर्क! फैसले तक तो अगला इलेक्शन आ जायेगा। यदि मै मंत्री बन गया तो फिर क्या कहने, अपने क्षेत्र में योगी मुनि रहूँगा,पर बड़े–बड़े शहरों

में अय्याशी का नंगा नाच खेलुंगा। मेरी प्रेम और वसना की जो नदी सूख चली है फिर भर जाएंगी। अच्छा,मै अपनी ब्लैक मनी छिपाउंगा कैसे ?फैक्ट्रियो में, विदेशी बैंकों में, फिर भी इफरात हुआ तो राजनितिक भ्रष्टाचार विरोधी फिल्मों का निर्माता बन जाऊंगा" ।[4]

लोकतांत्रिक जिम्मेदारी

लोकतंत्र के चौथे स्तंभ के रूप में मीडिया भी अपनी जिम्मेदारी से चूक गई है। सत्ता मीडिया को अपने खेल के लिए मुहरों की तरह इस्तेमाल करती है। पूँजीवादी संरचना में मीडिया अपनी टीआरपी के लिए समाचार बनाती है। उसमे सामाजिक पक्षधरता कम और व्यवसायिकता ज्यादा हावी है। भ्रष्ट और संवेदनहीन मीडिया के कुत्सित रूप को अखिलेश उजागर करते हैं। 'सरोज' के मामले में क़ानून और मीडिया की संवेदनहीनता उजागर होती है। यह मात्र संयोग नहीं होता कि "प्रदेश मंत्रिमंडल में गोरखनाथ के कट्टर समर्थक माने जाने वाले सूचना मंत्री ने अपने आवास पर दैनिक समाचारपत्रों, पत्रिकाओं, समाचार एजेंसियों के संपादकों–संवादाताओं को रात्रि भोज पर बुलाया गया।..दावत में सूचना मंत्री ने समस्त अतिथियों को शराब के नशे में डुबो दिया था। वह उन्हें अधिक से अधिक शराब पीने के लिए प्रेरित कर रहा था। उसका अनुरोध था कि आज यहाँ उपस्थित प्रत्येक व्यक्ति इतना अधिक पिए कि इस पीने को उसके जीवन में सबसे ज्यादा पीने के कीर्तिमान के रूप में किये जायें।..दूसरी बात को लेकर विशेष सनसनी थी कि रात्रिभोज में सम्मिलित होने वाले प्रत्येक पत्रकार को रंगीन टीवी सेट दिए जायेंगे,जो राज्य सरकार के उपक्रम 'वीडियो विश्व' के उत्पाद होंगे" ।[5] यह वही रात्रिभोज और दिया जाने वाला उपहार है जो मीडिया को तोता बना देता है। ये आयोजन दरसल मीडिया के पतन की पूर्वपीठिका तैयार करते हैं। मीडिया से 'आम आदमी' का, उसकी समस्याओं का विस्थापित होकर 'शराब में डुबो' दिया जाना है। क़ानून व्यवस्था के लचर और भ्रष्ट होते जाना ऐसी ही एक घटना है। क़ानून का भ्रष्ट होते जाने को वे अपने खिलंदरे अंदाज में लिखते हैं "वकीलों के तख्तों पर मक्खियों के मल के धब्बे हैं। वकीलों के काले कोट पर भी धब्बे होंगे लेकिन काले रंग में धब्बे छुप जाते हैं। काले कोट खुद बड़े बड़े धब्बे लगते हैं। तीस वर्षों में तहसील के पांच धब्बे डेढ़ सौ धब्बों में बदल गये हैं। हमारे देश में धब्बों के पास जबरदस्त प्रजनन शक्ति है इसीलिए बेतहाशा बढ़ती आबादी से बहुत ज्यादा प्रतिशत वृद्धि धब्बों की है" ।[6] अखिलेश व्यवस्था के इस चक्र का उदघाटन कर हाशिये के व्यक्ति और समाज की समस्याओं से अपना सरोकार जोड़ लेते हैं। मनुष्य विरोधी संस्था और व्यवस्था से अपना प्रतिरोध दर्ज कराते हैं।

राजनीति में महिला सशक्तिकरण की बात की जाती है। महिलाओं के लिए आरक्षण पर बहस की जाती है लेकिन इस 'आधी आबादी' को उसका अपेक्षित सामान नहीं मिलता। सामजिक हो या राजनैतिक ,सभी स्तरों पर उन्हें पितृसत्तात्मक व्यवस्था का दंश झेलना ही पड़ता है। राजनैतिक स्तर पर मात्र उसकी भागीदारी मिलती है। उनकी ये भागीदारी भी मुहरें की तरह इस्तेमाल की जाती हैं। 'यक्षगान' की 'सरोज पाण्डेय' सामाजिक प्रताड़ना की शिकार है लेकिन 'मीरा यादव' सामजिक रूप से मजबूत है। वह नेत्री हैं फिर भी वह शोषण का शिकार होती हैं राजनैतिक प्रताड़ना का। अखिलेश 'मीरा यादव' की राजनितिक अभद्रता के शिकार द्वारा महिलाओं के दोयम दर्जे की स्थिति को चित्रित करते हैं। नेताजी ने अजीब तरह से मुंह बिचकाते हुए विभिन्न प्रकार की आवाजें निकालकर मीरा यादव को चिढ़ाया और बिफर पड़े–"तुम एक तो चूतिया हो दुसरे मेहरारू। मुझे वोट का गणित सिखाने चली हो। अरे पता है प्रदेश में गोरखनाथ की जाति के कितने वोट हैं। खुद मेरे चुनावी क्षेत्र में उसकी जाति के पैंतालीस हज़ार वोट हैं। तुम्हारी इस करतूत से हम ये सारे के सारे वोट गवाँ देंगे" ।[7] नेताजी की भाषा, भाषा का लक्ष्य 'मीरा यादव' और 'वोट बैंक' ये तीन भारतीय राजनीति की पतनशील सच्चाई हैं। एक तो महिला की भागीदारी एक अपवाद सरीखा है दूसरा ये राजनीति अपने वोट के लिए किसी भी हद तक की नीचता तक जा सकते हैं।

बेरोजगारी की पीड़ा

अखिलेश की रचना का समय राजनीतिक उथल–पुथल का समय था। आर्थिक, शैक्षिक, राजनीतिक अस्थिरता वाले समय में बेरोजगारी एक समस्या बन कर उभरी है। अखिलेश इस समस्या को सामूहिक बेरोजगारी की समस्या के रूप में रचते हैं। एक बेरोजगार युवा के अंतर्मन को उसकी पीड़ा को दर्ज करती है। बेरोजगारी की समस्या से

विचलित असहाय मन कितना व्यथित होता है इसकी मारक पहचान अखिलेश 'चिट्ठी' और 'अन्वेषण' और 'निर्वासन' में करते हैं। एक युवा मन की संभावनाशीलता पर भयावह समय के मारक असर की त्रासदी घनीभूत हो उठती है। युवा के शिक्षित,प्रतिभावान होने के बावजूद किसी अन्य कारण से नौकरी न मिल पाने की समस्या को अखिलेश पूरे आवेग से उठाते हैं। बेरोजगारी की मार झेल रहे युवा को घर भी 'यातनागृह' की तरह लगता है। वह बेरोजगारी उत्पन्न करने वाली उस व्यवस्था की निरर्थकता और उसको व्यपार केन्द्रित हो जाने को निर्ममता से प्रस्तुत करते हैं—"मैंने सड़क से यूनिवर्सिटी की तरफ निगाह डाली,वह हत्यागृह लगी"।[8] बेरोजगारी जब यातना बन जाती हैं व्यक्ति डरने लगता है। ऐसा डर मानो 'जैसे कोई भीतर ही कोई ऐसी मशीन लग गई हो जो अनवरत डर का उत्पादन करती है'। उसे अपने घर जाना 'यातनागृह' में जाने जैसा लगता है। ये सारे सवाल के उपजे डर हैं। उदारीकरण से लेकर वैश्वीकरण जैसी स्थितियाँ आ गई हैं लेकिन व्यवस्था बदलने की जगह पर विकृत ही हुई हैं। इस व्यवस्था से उपजी उसकी आत्मपीड़ा उसके मनोग्रंथि में गहरे धंस गई है। उसके सामने एक सवाल बारहा घूम रहा होता है। उसे ऐसा लगता है जैसे "..अभी शरीर की नसें फट जाएँगी और खून का फव्वारा निकल पड़ेगा। सब कुछ खिंचता जा रहा था..खिंचता जा रहा था ..तभी अचानक मेरी आँखों से आंसू गिरने लगे ,मैं क्या करूं? कुछ करने को हो तो करूं? आखिर मै क्या करूँ"?[9] ये सारे सवाल व्यक्ति को व्यथित कर देते हैं ,वह कातर मानसिक पीड़ा से बिलबिला उठता है। अतीत के सुख का मुखड़ा उठा कर तसल्ली चाहता है जहाँ वे कितने 'मेधावी और उच्च आत्मा' वाले थे ।

शिक्षित युवा बेरोजगार की पीड़ा और अंतर्जगत के यथार्थ को अखिलेश सूक्ष्मता से प्रकट करते हैं । कहानी चिट्ठी का ये अंत की 'बहुत दिन हुए किसी दोस्त की चिट्ठी नही आई और न ही मैंने ही किसी को कोई चिट्ठी लिखी है'। दरअसल यह भविष्य की और इशारा था जहाँ बेरोजगारी विकट समस्या के रूप में आने वाली थी।

वैश्वीकरण का प्रभाव

अखिलेश की लेखनी वैश्वीकरण और उसके प्रभावों को सूक्षमता से उभारते हैं। वैश्वीकरण ने उपभोक्तावाद, बाजारवाद की संस्कृति विकसित की। यह संस्कृति दरअसल 'विस्थापन की संस्कृति' है। यह विस्थापन व्यक्ति, समाज और संस्कृति तीनों स्तरों पर हो रहा है। वे इस विस्थापन को प्राथमिक स्तर पर व्याख्यायित करते हैं। वे स्मृति का विस्थापन, प्रतिरोध की परंपरा का समापन देखते हैं। वो साफ़ देखते हैं कि परिवार नियोजन, वैद्यनाथ और ब्लॉक के इश्तिहारों की मनोरंजकता खो बैठना और उसकी जगह इश्तिहारों में सेक्स और नग्नता के प्रति आकर्षण का बढ़ते जाना, मनोरंजन का कर्मकांड में बदलते जाना स्वतःस्फूर्त प्रक्रिया नहीं है बल्कि यह उस उपभोक्तावादी संस्कृति का मकड़जाल है जो हमारे विचार और स्मृतियों को विकृत कर,विस्थापित कर अपने कर्मकांडों को रच रहा है। बाज़ार जानता है कि उसे अपनी संस्कृति कैसे विकसित करनी है? "स्मृति के खजाने से एक–एक कर स्मृति को निकालो और उसे इतना विकृत कर दो कि वह अपनी पहचान खो दे"।[10] स्त्री की स्वतंत्रता के नाम पर नग्नता और सेक्स पड़ोसकर विज्ञापन की माया द्वारा मनुष्य का वस्तुकरण किया जा रहा है। अखिलेश अपनी रचनाओं में इस पूरी प्रक्रिया और उसकी व्यापकता को पूरे आवेग से उठाते हैं।

अखिलेश बच्चों के बचपन का अंत और धर्म का राजनीति बनते जाने से विचलित हैं। बच्चों को धार्मिक कर्मकांडों में उतारने और उसे बाज़ार से जोड़ कर उसका बालपन ख़त्म किया जा रहा है। उसका ट्रीटमेंट व्यस्क की तरह किया जा रहा है। धर्म और धार्मिक आयोजन आज राजनीति प्रेरित हैं। 'राम आज जुबान पर ज्यादा ह्रदय में कम बसते हैं'। कस्बे का कस्बापन ख़त्म होता जा रहा है, स्कूल में अध्यापक और अस्पतालों में डॉक्टर नहीं हैं लेकिन कस्बें में 'ब्यूटी पार्लर' खुल गया है। कस्बे में अब 'मिनरल वाटर' और '555 सिगरेट' मिलता है यानी गाँव का भी बाजारीकरण हो रहा है। इस बाजारीकरण में "क़स्बा अब क़स्बा नहीं रहा, वह शहर का प्रहसन हो गया है। वह किसी का उच्छिष्ट हो गया है जैसे किसी शहर ने गर्भपात कराया हो, मरा हुआ शिशु–मांस का यह लोथडा यह कस्बा है या जैसे गाँव की कोई स्त्री साड़ी के ऊपर स्कर्ट पहनकर मटक रही है'।[11] पारिवारिक संबंध टूट रहे हैं। अपनेपन का पलायन हो रहा है। घरों से आँगन ख़त्म होता जा रहा है। "आँगन का सच यह है कि वह

कमरों,बरामदों,दरवाजों,परिवार के साथ ही रहता है। ये नहीं रहता तो अकेला उदास आंगन वह जगह छोड़ कर चला जाता है' ।[12] एकल परिवार की संरचना अस्तित्व में आती है।

उपभोक्तावादी संस्कृति का प्रतिकार

उदारीकरण, वैश्वीकरण, निजीकरण से बढ़ते महाविनाशकारी बाज़ार और उपभोक्तावादी संस्कृति व्यक्ति की तमाम नैतिकताओं और सहजताओं को रौंद रहा है। संबंधों की सामाजिकता को बाज़ार में ला खडा करने वाले छद्म विकास उनकी रचना का हिस्सा बनकर उजागर होते हैं। बदलते समाज और पारिवारिक संबंधों पर बाज़ार का हावी होते जाना उनकी रचनाओं में प्रमुखता से मिलता है। 'जलडमःमध्य' के सहाय जी शहर के बदलते परिदृश्य से कुपित होकर गाँव जा बसते हैं। दुरावस्था की बीमारी से ग्रस्त हो जाते हैं। वहीं उनका बेटा–पोता,बहु उपभोक्तावादी सभ्यता के क्रूर खेल का हिस्सा बनकर रिश्तों और भावनाओं को वस्तु में बदल देते हैं। चिन्मय और मनजीत को इस बात से कोई फर्क नहीं पड़ता कि 'चिरैयाटार' के घर को बेच दिया जाए। उनका अपने उस पुस्तैनी मकान से कोई संवेदनात्मक लगाव नहीं है।

बाज़ार हमारी इच्छा को बढ़ाकर एक आभासी दुनिया की अदम्य सुखों की आकांक्षा पैदा कर देता है। वह हमारे स्वप्न,कल्पना,भावना सामाजिकता सभी पर चोट करता है। उसे विकृत करता है। बाजार जानता है कि हमारी मूल भावनाओं को विस्थापित, विकृत कर के ही वह अपना साम्राज्य फैला सकता है। उसने यही किया। एक ऐसे भोगवादी तंत्र का निर्माण किया जो जीवन की सहजता के स्थान पर बाह्य आडंबर को बढ़ावा देता है। मनुष्य को उसके मूल स्वभाव से काट देता है। एक तरह से वह हमे 'शापग्रस्त' बना रहा है। जहां व्यक्ति 'प्रमोद वर्मा' की तरह अपने को कभी सुखी महसूस नहीं कर सकता। 'प्रमोद वर्मा' के पास सारे भौतिक सुख उपलब्ध हैं लेकिन उसे किसी चीज में सुख नहीं मिलता। वह कहता है –"मै एक रोग का रोगी हो गया हूँ। अजीबो गरीब रोग है। मुझे कहीं भी किसी भी चीज में सुख नहीं मिलता" ।[13] भौतिक सुखों के पीछे भागते–भागते उसका शरीर और आत्मा दोनों बदल गये हैं। इस भोगवादी व्यवस्था ने उसे संवेदना शून्य बना दिया। उसकी आत्मा खो जाती है। उसमे मनुष्यता के लक्षण समाप्त हो जाते हैं। अखिलेश का साहित्यिक सरोकार ऐसे ही मनुष्यता विरोधी प्रवृतियों, व्यवस्थाओं के प्रतिरोध में है। व्यक्ति और समाज को 'शापग्रस्त' होने से बचाने में है।

निष्कर्ष

अखिलेश की रचनाएँ ध्वंस के विभिन्न स्तरों और प्रक्रियाओं को उद्घाटित कर उनकी पेंचें खोलते हैं। उनके पात्र अपनी समस्याओं से जूझते हुए समय से जुड़ जाते हैं। परिवेश में घटने लगते हैं और ऐसे व्यूह को 'डिकोड' करते हैं जिसकी संरचना लगभग 'इन्क्रिप्टेड' है। उनकी रचनाओं का सरोकार इस व्यूह में फंसे समय, समाज और संस्कृति से है।

सन्दर्भ सूची

1. पाण्डेय, मनोज कुमार (2013) शापग्रस्त, *अखिलेश प्रतिनिधि कहानियाँ,* राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 169।
2. पाण्डेय, मनोज कुमार (2013) यक्षगान, *अखिलेश प्रतिनिधि कहानियाँ,* राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 98।
3. पाण्डेय, मनोज कुमार (2013) यक्षगान, *अखिलेश प्रतिनिधि कहानियाँ,* राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 113।
4. अखिलेश, अँधेरा, बायोडाटा, पृ. 78।
5. अखिलेश (2001) *वह जो यथार्थ था,* राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 109।
6. पाण्डेय, मनोज कुमार (2013) यक्षगान, *अखिलेश प्रतिनिधि कहानियाँ,* राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 111।